शास्त्रार्थ और वाराणसी

लगभग ३५० वर्षों पूर्व सन् १६५५ में वर्नियर का भारत आगमन हुआ था। उसने काशी के अनेक प्रमुख विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त किया था। बर्नियर के यात्रा वृत्तांत से काशी के तत्कालीन विद्वानों की शास्त्रार्थ परंपरा का अच्छा आभास मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि काशी की शास्त्रार्थ सभाएँ ज्ञान का प्रसारण करने वाली प्रमुख संस्थाओं की भूमिका अदा करती थीं। स्व.. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बार प्रसंगवश कहा और बिल्कुल सही कहा था --

''सत्य तो यह है कि वर्नियर इस अद्‌भुत पद्धति का महत्व ही नहीं आँक सके। उन्होंने पाठशालाओं और उनके छात्रों को देखा, परंतु सारी नगरी में, शास्त्रार्थ चर्चा, पाठशालाओं की अपेक्षा कहीं अधिक ज्ञान साधना के विश्वविद्यालय का काम कर रही हैं, यह वे नहीं समझ सके। यह शास्त्रार्थ चर्चा काशी की अपनी मौलिक पद्धति थी, जिसने सारी नगरी को विश्वविद्यालय की मर्यादा दे रखी थी। पाठशालाएँ केवल इस महान चिन्मय सागर की ऊपरी सतह की तरंगों के समान गिनी जा सकती हैं -- इनसे उनके अतुल गांभीर्य का पता नहीं चलता। वर्नियर ने जब यह कहा था कि यूरोप के विश्वविद्यालयों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती, तब उन्होंने स्वीकार किया था कि उन्हें वह दृष्टि नहीं मिली है, जो इस प्रकार के विश्वविद्यालय का महत्व आँक सके।''

हमारी पुण्यपुरी काशी या वाराणसी अति प्राचीन काल से संस्कृत का एक महाविद्यापीठ रही है। यहाँ एक- से- एक बढ़- चढ़ कर धुरंधर, दिग्गज, सर्वतंत्र स्वतंत्र विद्वान रहे हैं और उनकी अपनी- अपनी परंपराएँ रही हैं। इस नगरी में खण्डन- मण्डन और शास्त्रार्थ की परंपरा तो सनातन काल से ही चली आ रही है। किसी युग में तो प्राचीन ज्ञान का आदान- पदान एवं तर्क- नैपुण्य प्राप्त करना ही विद्योपार्जन का चरम लक्ष्य हो गया था। राष्ट्रीय ह्रास के साथ- साथ इतरेतर कला- विद्याओं पर जहाँ कम ध्यान दिया जाने लगा, वहाँ तर्क विद्या पर शब्दों द्वारा खण्डन- मण्डन पर शनै- शनैः विशेष जोर दिया जाने लगा। भाषा में एक नूतन प्रणाली का जन्म हुआ, तार्किक शब्दावली विशेष रूपेण प्रयोग में आने लगी।

दूसरे शब्दों में सीधी- सादी बात को भी घुमा- फिराकर कहने की प्रथा शुरू हुई-- नवीन शैली, नई शब्दावली चल निकली। व्याकरण के अध्ययन में तर्क तथा न्यास का असाधारण समन्वय तो हुआ ही, प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन में भी पूर्वोक्त नूतन प्रणाली का अनुसरण होने लगा। इस प्रकार पांडित्य एक नवीन प्रकाश से प्रज्जवलित हो उठा, पांडित्य की पीठिका तर्क एवं व्याकरण द्वारा प्रस्तुत होकर व्यवहृत हुई।

शास्त्रार्थ के लिए -- यह काशी की अपनी पावन परंपरा रही है। शास्त्रार्थ- सभा को एक प्रकार की वैचारिक मल्लशाला कहना अनुचित न होगा, जहाँ महारथी लोग लँगोट बाँधकर नहीं, अपितु भारतीय प्राचीन वेशभूषा- पगड़ी- साफा, बगलबंदी, दुपट्‌टा आदि धारण करके उतरते हैं। मल्लभूमि की रज को धारण करने के बदले वे चंदन लगाते हैं और उनके दाँव- पेंच, हाथ- पैर के न होकर वाणी के होते हैं। इस शास्त्रार्थ प्रणाली का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें विद्वानों का उसके स्तर का निर्णय हो जाता है।

यों तो दो महारथियों की योग्यता या श्रेष्ठता का निर्णय विशेष शास्त्रार्थों में ही होता है, किंतु साधारणतः विद्वान-मंडली एवं छात्रों में कौन कितनी गहराई में हैं, इसकी झलक प्रायः इन शास्त्रार्थों में मिल जाती है। शास्त्रार्थ के अवसर पर सर्वमान्य, ज्ञानवयोवृद्ध सज्जन को निर्णायक मान लेते हैं और तदन्तर शास्त्रार्थ का श्रीगणेश होता है। वाद- विवाद चरम- सीमा पर पहुँच जाने पर भी पर्याप्त अनुशासन रहता है, किसी प्रकार की अभद्रता या अशिष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती।

शास्त्रार्थ- सभा के समीप पहुँचने पर 'प्रतियोगिता नवच्छेदक मत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्न साध्य समानाधिकरणस्य व्याप्तिः'' अथवा ''अर्थवत्व प्रातिपदकत्व कर्मत्व यदागत निर्दिश्यमान....'' इत्यादि लच्छेदार झड़ियाँ सुनाई पड़ती है। युवक, छात्रों एवं पंडितों द्वारा बात आरंभ होकर महारथियों की चख- चख तक पहुँच जाती है। नव- नवीन कोटि में से

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

धक्काड़ और पुराने लोग भी चकित हो उठते और सिर हिलाने लगते हैं। पाण्डित्य की ऐसी आकर्षक कला से उस व्यक्ति की धाक पंडित मंडली में जमे, यह स्वाभाविक ही है।

प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं का समाधान काशी के विद्वान करते रहे हैं। कोई प्रश्न उठने पर उसका समुचित उत्तर निर्णय या व्यवस्था काशी से ही दी जाती रही है और वह सर्वमान्य भी हुई है । यही कारण है कि प्रत्येक नवीन धर्म के प्रचारक या नवीन शास्त्रीय विवाद उठाने वाले महानुभाव अपने सिद्धांत पर विश्वास तथा जनता जनार्दन की सहमति प्राप्त करने के हेतु बाध्य होकर वाराणसी आते रहे हैं। गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी एवं महर्षि दयानंद, काशी पधार चुके हैं और उनके सिद्धांतों की सुरभि काशी से ही फैली।

गोस्वामी तुलसीदास और मधुसूदन सरस्वती का महान वैयाकरण नागेश भट्ट, जिनका 'शब्देंदु शेखर' विशेष प्रसिद्ध हैं, से तथा अप्पय एवं भट्टाजि दीक्षित आदि से हुआ। संस्कृत के अंतिम महाकवि पंडितराज जगन्नाथ का शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध है। महर्षि दयानंद एक- दो बार नहीं, अपितु सात बार काशी आए थे। सर्वप्रथम वे सन् १८५६ (संवत् १९१३ वि.) में काशी आए थे। मूर्ति पूजा का खण्डन करने के कारण उनके विचारों से काशी में, विशेषकर सनातनियों में खलबली मच गई और एक आंदोलन का रूप खड़ा हो गया था। प्रथम काशी आगमन के समय स्वामी जी से काशी के प्रसिद्ध विद्वान पं. राजा राम शास्त्री एवं काका राम शास्त्री से परिचय हुआ था। पूर्वोक्त नागेश भट्ट के समकक्ष एवं समकालीन विद्वानों में पं. भैरव मिश्र भी उल्लेखनीय हैं। राजाराम जी के साथ ही हमें पं. योगेशदत्त ओझा का भी स्मरण हो आता है। ये सभी शास्त्रार्थ महारथी रहे हैं।

पं. काकाराम शास्त्री पं. दिलाराम शास्त्री के पुत्र थे, जो स्वयं अच्छे विद्वान थे। उन्होंने काशी आकर दशाश्वमेध घाट पर तंबू लगा दिया था और घोषित कर दिया था कि जो भी विद्वान चाहे हमसे शास्त्रार्थ कर सकता है। उन दिनों यहाँ 'दण्डी स्वामी' नामक एक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे, जिन्होंने एक मूर्धन्य विद्वान को दिलाराम जी के पास शास्त्रार्थ के लिए भेजा था। तंबू में उस समय पं. काकाराम जी थे, जिनकी उम्र उन दिनों मात्र सोलह वर्ष की थी। उन्होंने काकाराम जी से दिलाराम जी के विषय में जिज्ञासा की। उत्तर में काकाराम जी ने कहा -- ''पूजन पर हैं। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?''

दण्डी स्वामी के भेजे वे विद्वान, काकाराम जी के उत्तर से चकित हो गए और उन्होंने काकाराम जी से वेदांत का एक जटिल प्रश्न किया। तत्काल उन्होंने समाधान प्रस्तुत कर उनको गद्गद् कर दिया। एक बार कश्मीर नरेश गुलाब सिंह जी काशी पधारे, तो काकाराम जी से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने काकाराम जी को अपना गुरू बनाया और एक लक्ष्य मुद्रा भेंट की। काशी के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के बाद से काकाराम जी को पंडितों की सभा में सर्वप्रथम तिलक लगाया जाता था। तिब्बत, नेपाल आदि देशों के नरेशों द्वारा भी वे बहुत सम्मानित हुए। पूर्वोक्त पं. राजाराम शास्त्री संभवतः काकाराम जी के ही वंशज थे, जो आयुर्वेद के भी प्रकाण्ड विद्वान थे और जिनकी प्रसिद्धि 'राधोजी महाराज ' के रूप में भी रही है।

पं. राजाराम शास्त्री से भी अधिक प्रसिद्ध हुए उनके शिष्य बाल शास्त्री। महर्षि दयानंद से काशी के विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ था, उनमें सर्वश्री बाल शास्त्री, ताराचरण शास्त्री और स्वामी विशुद्धानंद उल्लेखनीय हैं। उक्त शास्तार्थ में महाराज काशीराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह जू देव विशेष रूप से आमंत्रित किये गए थे। १३३ साल हो गए उक्त प्रसंग को। संवत् १९२६ वि. (सन् १८६९ में) नवम्बर मास की १७ तारीख को उक्त शास्त्रार्थ हुआ था।

पं. बाल शास्त्री के प्रमुख शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हुए -- १. वैयाकरण केशरी महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री भारद्वाज और २. पं. शिवकुमार शास्त्री। एक बार इन दोनों गुरू भाइयों में शास्त्रार्थ छिड़ गया। दोनों ओर लगभग ५- ५ सौ छात्र इकट्ठे हो गये। शिवकुमार जी ने गुरू पं. बाल शास्त्री जी को निर्णायक के आसन पर बिठाना चाहा। वे धर्मसंकट में पड़ गये, क्योंकि उनसे दामोदर जी की प्रतिभा-- योग्यता भी छिपी नहीं थी। उन्हें एक युक्ति सूझी। वे वहाँ से उठकर चले गये। शास्त्रार्थ की तैयारी हो चुकी थी, अतः शुरू हुआ और कई दिनों तक होता रहा। अंत में सभा 'हर- हर महादेव' के नारे से गूँज उठी। इस घटना के बाद जब कभी शिवकुमार जी किसी रास्ते से गुजरते, जनता 'हर- हर महादेव' की ध्वनि

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

करने लगती। उल्लेखनीय है कि काशी नरेशों को ही यह सम्मान- सत्कार प्राप्त रहा है, किंतु उनके अतिरिक्त काशी में केवल शिवकुमार जी ही एक ऐसे व्यक्ति हुए, जिनका स्वागत इस प्रकार हुआ।

पं. शिवकुमार जी की जिह्वा पर सरस्वती का वास था। वे जो कह देते, सत्य हो जाता था। मार्ग में चलते- चलते भी उनका शास्त्रार्थ होता रहता। आरंभ में अध्ययन करते रहे। प्रिंसिपल श्री राइट के कार्यकाल में चार साल तक वे राजकीय संस्कृत कालेज (संप्रति संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय) में अध्यापन करते रहे। प्रिंसिपल श्री राइट के कार्यकाल में उन्होंने कालेज छोड़ा और वे दरभंगा चले गये। एक बार दरभंगा नरेश श्री लक्ष्मीश्वर देव की राजसभा में वहाँ के मैथिल विद्वान से इनका शास्त्रार्थ छिड़ गया। नरेश भी उपस्थित थे। उस समय पं. शिवकुमार जी ने 'पायाज्जटाघन घटा वृष में मध्वजस्य' तथा 'प्रविशति जलमध्ये शीत भीतामृगक्षी' प्रभृति अनेक समस्याओं की तुरंत पूर्ति करके लोगों को चकित कर दिया था और नरेश ने उनको एक सहस्त्र मुद्रा भेंट करने के साथ ही अपना सभापंडित नियुक्त किया था।

पं. शिवकुमार जी अपनी विचार मल्लता में अद्वितीय थे। उन दिनों विद्वत्मण्डली में घोर संघर्ष विद्यमान था। उत्तर और दक्षिण के विद्वानों में पारस्परिक स्पर्धा चल रही थी। इस कारण, दक्षिण के विद्वान उनको आमंत्रित न कर अपनी संकुचित मनोवृत्ति का परिचय दे रहे थे। इसके बावजूद, शिवकुमार जी शास्त्रार्थभिलाषा शांत करने के हेतु स्वयं वहाँ पहुँच जाते और स्थिति ऐसी हो गई थी कि जिस सभा में वे न पहुँचते, वह सभा 'सभा' ही नहीं मानी जाती थी। उक्त संघर्ष के कारण ही शिवकुमार जी ने कालेज का परित्याग किया था।

शिवकुमार जी ने असंख्य प्रतिद्वन्द्वियों पर सभाओं में विजय प्राप्त की थी। एक बार महामहोपाध्याय कैलासचंद्र शिरोमणि जी की मध्यस्थता में महामहोपाध्याय श्रीरामधन तर्क पंचानन जी से उनका शास्त्रार्थ हुआ। वेदांत के द्वैत मत और अद्वैत मत पर शास्त्रार्थ था। उसमें शांकर, अद्वैत मत का समर्थन करने वाले पं. शिव कुमार जी ने रामधन जी को पराजित किया था। इसी प्रकार कश्मीर राज्याश्रित विक्रमपुर के प्रधान पंडित महामहोपाध्याय रास मोहन सार्वभौम को शिवकुमार जी ने परास्त किया था। कश्मीर में जाकर उन्होंने अपने बुद्धि वैभव से वहाँ के अन्य विद्वानों को भी वशीभूत कर लिया था।

एक बार शिवकुमार जी से भारत- मार्तण्ड गट्टूलाल शास्त्री जी से शास्त्रार्थ हुआ, जो बंबई निवासी प्रज्ञाचक्षु थे। गट्टूलाल जी का पक्ष विशिष्टाद्वैत मत था और शिवकुमार जी का शांकराद्वैत मत। उन्होंने गट्टूलाल जी को भी मात दे दी। श्रृंगगिरिमहापीठाधिप जगद्गुरू शंकराचार्य ने शिवकुमार जी को 'सर्वतंत्रस्वतंत्र पण्डित राज' पदवी के साथ स्वर्णपदक बहुमानपूर्वक समर्पित किया था। 'अत्रैव विद्यारसः' इस पद से अंकित स्वर्ण पदक बामरा महीपति द्वारा भी उनको प्राप्त हुआ था। कलकत्ते की 'कान्यकुब्ज- सभा' ने भी उनको स्वर्ण पदक तथा 'विद्यामार्त्तण्ड' की पदवी से अलंकृत किया था। लाहौर की 'हिंदू सभा' के विशाल मण्डप में सर अतुलचंद्र चट्टोपाध्याय के सभापतित्त्व में उनको अभिनंदन पत्र भी भेंट किया गया था। लाला हंसराज सरीखे लोग समारोह में उपस्थित थे। शिवकुमार जी के जीवन काल में संपूर्ण भारतवर्ष की धर्मशास्त्रीय व्यवस्था प्रदान करने का कार्य उन्हीं के परामर्श से होता था। शिवकुमार जी में एक विलक्षणता यह थी कि वे शास्त्रार्थ के समय नयी बातें कह जाते, भले ही ग्रंथों में उनका उल्लेख न हो।

पं. बाल शास्त्री के द्वितीय शिष्य वैयाकरण केसरी, महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री भारद्वाज का भी कभी जमाना था। पण्डित मण्डली के बीच उनको 'सभासिंह' कहा जाता था। बड़े- बड़े वादियों की बुद्धि उनके सामने कुंठित हो जाती थी। सन् १८९९ में महारानी विक्टोरिया ने उनको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से अलंकृत किया था। अनेक देशों से लोग केवल उनसे दर्शनार्थ ही वाराणसी आते थे। एक बार उनसे लश्कर (ग्वालियर) के राज्याश्रित गोपालाचार्य प्रभृति विद्वानों से शास्त्रार्थ हुआ था, जो तीन दिनों तक चलता ही रहा। अंत में दामोदर शास्त्री जी ने सभी को परास्त किया। चारों ओर से पुष्पवृष्टि के समान प्रशंसोद्गारों की वृष्टि होने लगी। विजयोपलक्ष्य में ग्वालियर नरेश ने उनको एक दुशाला और पाँच सौ रूपये भेंट किए थे।

एक बार द्वारकापीठाधिप शंकराचार्य और श्रृंगगिरिपीठधिप शंकराचार्य में घोर विवाद हो जाने पर उसके निवारणार्थ दामोदर जी को सूरत बुलाया गया था, जहाँ उन्होंने आठ दिनों तक प्रतिवादियों से शास्त्रार्थ कर उनको परास्त किया था।

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

पश्चिम दिशा में मण्डी के राजा द्वारा भी ये आमंत्रित किए गए थे, जहाँ सन् १९०० में उन्होंने राजकीय विद्वानों को मात दी थी। 'फतेहपुर हँसवा' नामक नगर में एक बार एक संन्यासी महात्मा से उनका शास्त्रार्थ चार दिनों तक चलता रहा। पाँचवें दिन संन्यासी जी भाग गये और फिर वापस नहीं आए। पं. दामोदर शास्त्री विजयी हुए।

सन् १८८६ ई. में राघवपुर में किसी यज्ञोपवीत- संस्कार के अवसर पर बहुत से विद्वानों का समागम हुआ था, जिनमें पंडित मूर्धन्य दामोदर शास्त्री भी थे। वहाँ उनसे पं. ऋषि झा से शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें पं. परमेश्वर ओझा मध्यस्थ थे। उसमें भी ऋषि झा पराजित हुए थे। झा जी के शिष्य धर्मदत्त जी (दूसरा नाम बच्चा झा) गुरू के पराभव को न सह सकने के कारण तीन साल बाद काशी आए और उन्होंने दामोदर जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। बच्चा झा जी ने व्युत्पत्तिवाद में पूर्व पक्ष रखा। शास्त्री जी ने तुरंत उलट दिया।

इ स प्रकार शास्त्रार्थ का श्री गणेश हुआ। विद्यासिंह द्वय में होने वाले शास्त्रार्थ को देखने- सुनने के लिए काशी के प्रायः सभी विद्वान उपस्थित थे। लगभग सात सौ मैथिल विद्वान भी थे। उक्त शास्त्रार्थ में महामहोपाध्याय कैलासचंद्र शिरोमणि, महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री और महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री प्रभृति मध्यस्थ थे। दिवसत्रय पर्यन्त शास्त्रार्थ विचार बहुत वेगपूर्वक चला। यहाँ तक परिस्थिति हो चुकी थी कि विजयी विद्वान का निर्णय करना कठिन हो गया। तीसरे दिन चौथे प्रहर में बच्चा झा जी की वाणी शिथिल हुई और मध्यस्थों ने दामोदर जी की कोटि को ही प्रबल माना। बच्चा झा ने भी निष्कपट भाव से घोषित किया -- ''इस भूमण्डल पर दामोदर शास्त्री जी के समान कोई दूसरा पंडित नहीं है।''

पं. दामोदर शास्त्री भारद्वाज से संबद्ध एक अन्य प्रसंग भी विशेष महत्वपूर्ण है। वह सन् १९०० ई. का प्रसंग है। उन दिनों जगद्गुरू शंकराचार्य और स्वामी नारायण मतानुयायियों में विवाद चल रहा था। वह क्रमशः बढ़ता गया और राजकीय अधिकरण तक पहुँच गया। उसमें मध्यस्थता के लिए दामोदर जी को चुना गया, किंतु उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। कहा जाता है कि स्वामी नारायण मतानुयायियों ने उनको पच्चीस हजार रूपये भेंट करने का प्रस्ताव भी रखा, जिसका उन्होंने तिरस्कार कर दिया। यह साहस देखकर जगद्गुरू शंकराचार्य ने दामोदर जी को 'अशेषवाङ्मय पारंग वैयाकरण केसरी' की उपाधि तथा स्वर्णपदक बहुमान के साथ भेंट किया था। ऐसे थे पं. दामोदर शास्त्री भारद्वाज !

महामहोपाध्याय पं. गंगाधर शास्त्री भी अपने ढंग के अनोखे विद्वान थे। किसी समय वे प्रयाग विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य रहे और अनेक बार एम. ए. परीक्षा के परीक्षक। सन् १९०९ ई. में महामहोपाध्याय गंगानाथ झा की डॉक्टरेट परीक्षा के परीक्षकों में से भी वे एक थे। उनको सी. आई. ई. की पदवी से सन् १९०३ ई. में सप्तम एडवर्ड के मुकुट धारण महोत्सव में लार्ड कर्जन ने अलंकृत किया था। प्रथम जुबली महोत्सव में सन् १८८७ ई. में महारानी विक्टोरिया ने उनको ''महामहोपाध्याय'' की उपाधि से विभूषित किया था। वाराणसी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय) में वह अध्यापक रहे। कालेज के प्रिंसिपल डॉ. आर्थर वेनिस शास्त्री जी को यावज्जीवन श्रद्धावश 'गुरू जी' ही कहते रहे।

शुद्धाद्वैत संप्रदाय के काशी के प्रख्यात श्रीगोपाल मंदिर के प्रांगण में एक बार एक विशाल सभा हुई थी, जिसमें वादी-प्रतिवादी भयंकर उद्भट विद्वान तथा अनेक विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। सन् १८८० ई. के लगभग का प्रसंग है यह। अद्वैत वेदांत के विशिष्ट विद्वान पूर्व चर्चित भारतमार्त्तण्ड गट्टू लाल शास्त्री के स्वागतार्थ उक्त सभा का आयोजन किया गया था। सभा में गट्टूलाल जी के अपरिमित शिष्य तथा हजारों दर्शक भी उपस्थित थे। दर्शकों में कुछ लोग यह विचार कर रहे थे कि कहीं गट्टूलाल जी काशी का गौरव खंडित न कर दें। लोग पंडित मण्डली की ओर बहुत आदर तथा मानपूर्वक देखते रहे और परस्पर मंद स्वर में ''भारतमार्तण्ड'' की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए कौतूहलपूर्वक शास्त्रार्थ सभा की कार्यवाही देखते रहे।

इ सी बीच गट्टू लाल जी ने जब अपना पांडित्य प्रकट किया, स्तब्धकर्ण दर्शक तथा विद्वान एकाग्रचित हो गए। संपूर्ण सभा आश्चर्यचकित हुई और उनकी प्रगल्भता को देखकर चतुर्दिक प्रशंसा होने लगी। उपस्थित विद्वानों के विनोद में प्रचलित दार्शनिक कथाएँ हो रही थीं, जिसमें आत्म- अनात्म का विचार चल रहा था। महामहोपाध्याय गंगाधर जी शास्त्री भी सभा में उपस्थित थे। उन्होंने आगे आकर शास्त्रार्थ के लिए गट्टूलाल जी का आह्वान किया। चारों ओर सभासदों में

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

वाराणसी वैभव या काशी वैभव - सुनील कुमार झा

एकाएक साधुवाद की हर्ष ध्वनि होने लगी। गंगाधर जी द्वारा दो- तीन युक्तियों एवं कोटियों के रखते ही गट्टूलाल जी स्तब्ध हो गये और बोले -- ''यदि हमारी समस्या की पूर्ति आप कर दें, तो आप ने हमको जीत लिया, ऐसा हम मान लेंगे।'' और यह कहकर उन्होंने 'बभौमयूरो लवशेष सिंहः' -- यह समस्या रखी। महामहोपाध्याय गंगाधर जी ने गट्टूलाल जी की समस्या की तत्काल पूर्ति कर सब को आश्चर्यचकित कर दिया। सभी लोग एक स्वर से 'वाह- वाह', जीत हो गई। 'साधु साधु जितं- जितं'-- ऐसी ध्वनि करने लगे। इस पर स्वयं भारतमार्तण्ड गट्टूलाल जी भी महामहोपाध्याय गंगाधर जी के पांडित्य की प्रशंसा करने लगे। गंगाधर जी ने समस्या की पूर्ति करते हुए ये पंक्तियाँ प्रस्तुत की थीं --

''अनेक वर्णक्रमरीतियुक्तः
फखागघाड़च्छ जझांटौठ।
अडण्ढ़णस्तौडथ दधौ न पम्फुल्
वभौ मयूरो लवशेष सिंह।।''

एक प्रसंग सन् १८९० का है। उस समय ब्रिटिश शासन के अधिकारियों ने गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा स्थानीय अस्सी घाट के समीप स्थापित श्री सीताराम मंदिर की मूर्तियों को हटाकर अन्यंत्र स्थापित करने की इच्छा प्रकट की, जिसके परिणाम- स्वरूप काशी में घोर विप्लव हो गया था। उक्त घटना 'रामहल्ला' के नाम से प्रसिद्ध है और ऐतिहासिक महत्व की है। उस समय महामहोपाध्याय पं. गंगाधर जी ने ही अपने पाण्डित्य के बल से मण्डलाधीश (कलेक्टर) को समझाकर मंदिरों का गिरवाना रोका और विप्लव शांत किया था।

काशी के पाण्डित्य- वीरों ने न केवल काशी, अपितु समस्त देश का गौरव बढ़ाया है और उनकी पाण्डित्य परंपरा अत्यंत गौरवपूर्ण रही है। काशी का गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, जो अब विश्वविद्यालय का रूप ले चुका है, भगवती सरस्वती की लीला भूमि रहा है। एक युग था, जब उच्चस्तरीय विद्वानों को, अध्यापनार्थ सादर आमंत्रित किया जाता था और यहाँ अध्ययन- अध्यापन, खण्डन- मण्डन तथा शास्त्रार्थ का ही बोल- बाला था। प्रतिष्ठित विद्वानों ने कभी उक्त विद्यासंस्थान में रहकर अर्थ- लाभ के लिए अपने पाण्डित्य का विक्रय नहीं किया। स्वनामधन्य डॉ. वेनिस को ही उक्त महाविद्यालय में देववाणी के वरदपुत्रों को लाने का प्रथम श्रेय है। डॉ. वेनिस स्वयं सहृदय, सुसंस्कृत और पारखी थे। उन्होंने चुन- चुनकर ऐसे रत्न वहाँ जुटाए थे, जिनमें से कुछ की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

भारतवर्ष में उस समय उच्च कोटि की विद्वद्विभूतियों का अद्‌भुत सम्मेलन था। कालेज की पद्धति के अनुसार वहाँ कोई जूता आदि पहनकर नहीं प्रवेश कर सकता था। अध्यापक का इतना प्रभाव था कि प्रिंसिपल को यदि कुछ कहना होता, तो वह स्वयं अध्यापक के पास आकर कहता था। अध्यापक को अपने पास बुलाने का उसमें साहस नहीं था। महामहोपाध्याय पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी किसी विषय के आचार्य न होते हुए भी अपनी विद्या- बुद्धि और अपने स्वाध्याय के बल पर ही 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के सदस्य बने और बने महामहोपाध्याय। वेद का कोई भी अंश उनसे अछूता नहीं था। ज्योतिष, व्याकरण, साहित्य -- सभी में उनकी गति समान थी।

इ सी प्रकार महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, कामाचरण महाचार्य, ताराचरण महाचार्य महामहोपाध्याय राम शास्त्री, महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री, महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु जी, गोस्वामी दामोदर लालजी, महामहोपाध्याय राम मिश्र शास्त्री, महामहोपाध्याय नित्यानंद पर्वतीय, पंडित गोविंद शास्त्री दुगवेकर, महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते, पंडित देवनायकाचार्य, पं. गणपति शास्त्री मोकाटे, पण्डित सूर्यनारायण शुक्ल, महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र मिथिला नगरी के गजहरा (मधुबनी) ग्रामवासी, कवि चक्रवर्ती देवीप्रसाद जी शुक्ल, रूद्रम् भट्ट, धर्माधिकारी जी, पं. बालबोध मिश्र, बापूदेव शास्त्री, पं. दाऊजी दीक्षित, स्वामी करपात्री जी, महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज, डॉ. भगवानदास जी, पंडितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, पं. अनंत शास्त्री फडके, पं. गोपाल शास्त्री नेने, पं. सभापति उपाध्याय, मुकुंद शास्त्री महाजन प्रभृति महारथी अपने- अपने क्षेत्रों में अक्षय यश प्राप्त कर चुके हैं और पार्थिव शरीर से विद्यमान न होने पर भी यशः शरीर से आज भी जीवित है, जिनकी शास्त्रार्थ कला, पाण्डित्य परंपरा भुलाई नहीं जा सकती।

काशी में शास्त्रार्थ परंपरा को जीवित रखने का श्रेय मुख्यतया श्री बल्लभराम शालिग्राम मेहता सांगवेद विद्यालय को है।

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

वाराणसी वैभव या काशी वैभव - सुनील कुमार झा

यहाँ शास्त्रार्थ के मुख्य दो स्थल है -- (१.) ईश्वरगंगी के समीप स्थित 'नागकूप' और (२.) 'संकट- मोचन' मंदिर के निकट 'दुर्गा- कुण्ड'। उक्त स्थानों पर दर्शन एवं मार्जन के तदनांतर शास्त्रार्थ शुरू होता है और श्रावण मास के उत्तरार्ध में आज भी काफी चहल- पहल रहती है। नागकूप के उत्तरी मैदान में नागपंचमी (श्रावण शु. ५) को शास्त्रार्थ होता है, जिसमें संस्कृत के विद्वान तथा विद्यार्थी एकत्र होकर एक विषय चुनकर वाद- विवाद करते हैं।

शास्त्रार्थ का विषय प्रायः निश्चित रहता है और उस विषय पर दो मतों के विद्वानों की बहस होती है। दोनों के ही विश्वास, मत या दोनों की मान्यताएँ इतनी दृढ़ होती है कि बहस या शास्त्रार्थ का निर्णय या परिणाम चाहे जो हो, उनके विश्वास में कोई फर्क नहीं पड़ सकता। विजयी पक्ष रूपयों एवं नारियलों से पुरस्कृत होता है। शास्त्रार्थ आरंभ करते हैं, विद्यार्थी और फिर वरिष्ठ उसे आगे बढ़ाते हैं। श्रावण के अंतिम मंगलवार को दुर्गाकुण्ड पर शास्त्रार्थ होता है। पहले पंचगंगाघाट पर भी नित्य सायंकाल शास्त्रार्थ होता था। कुछ काल पूर्व तक यह क्रम चलता रहा, जिसमें छोटे- बड़े सभी विद्वान भाग लेते थे, किंतु इधर राग- द्वेष तथा गुटबंदी के कारण शास्त्रार्थों का वास्तविक रूप अनेक बार दृष्टिगोचर नहीं होता और यदा- कदा विडम्बना भी देखी जाती है।

काशी की शास्त्रार्थ परंपरा का अपना एक वैशिष्ट्य रहा है। इस कला के माध्यम से नवीन बातों एवं नवीनतम सिद्धांतों का स्थापन तथा समर्थन होता रहा है। मात्र मनोरंजन ही शास्त्रार्थ का उद्देश्य कभी नहीं रहा। यह एक ऐसा पुरातन मंच है, जहाँ प्रत्येक विद्वान को अपनी साधना अपने पाण्डित्य को खुलकर प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त होता है, यह काशी की परंपरा है, क्योंकि अध्यापन तथा ज्ञानार्जन ही इस नगरी के प्रधान कार्य रहे हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अब पहले जैसे शास्त्रार्थ देखने- सुनने में नहीं आते, किंतु इस परंपरा को जीवित रखना उपयोगी है, पुनरूज्जीवित करना आवश्यक है। यदि इस कला का उपयोग सामयिक तथा अन्य समस्याओं के सुलझाने में किया जाए, तो एक नवीन चेतना आ सकती है और संस्कृत के विद्वान तथा छात्र भी उससे प्रभावित एवं प्रोत्साहित होकर राष्ट्र के विकास में यथेष्ठ योग दे सकते हैं। विचार- विमर्श या वैचारिक आदान- प्रदान का यह एक ऐसा परंपरागत साधन है, माध्यम है, जहाँ निमंत्रण की प्रतिक्षा न करके, प्रत्येक विद्वान कर्तव्यपालन की भावना से पहुँचता, सम्मिलित होता है।

© Copyright IGNCA, Sunil Jha
All rights reserved. No part of this may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.